International Journal of Humanities and Education Research

ISSN Print: 2664-9799
ISSN Online: 2664-9802
Impact Factor (RJIF): 8.97
IJHER 2026; 8(1): 18-22
www.humanitiesjournal.net
Received: 16-11-2025
Accepted: 18-12-2025

Dr. Sujit Kumar
University Department of Industrial Relations & Personnel Management (IRPM), T M Bhagalpur University, Bhagalpur, Bihar, India

Doly Kumari
Research Scholar, University Department of Industrial Relations and Personnel Management, T M Bhagalpur University, Bhagalpur, Bihar, India

Corresponding Author:
Dr. Sujit Kumar
University Department of Industrial Relations & Personnel Management (IRPM), T M Bhagalpur University, Bhagalpur, Bihar, India

गांधीवादी आर्थिक दर्शन और सतत विकास की समकालीन प्रासंगिकता

Sujit Kumar and Doly Kumari

DOI: https://www.doi.org/10.33545/26649799.2026.v8.i1a.315

सारांश

महात्मा गांधी का आर्थिक दर्शन मूलतः उस धारणा को चुनौती देता है जिसमें अर्थव्यवस्था को केवल उत्पादन की वृद्धि और उपभोग के विस्तार के रूप में समझा जाता है। गांधी के लिए अर्थशास्त्र नैतिकता से पृथक कोई तकनीकी अनुशासन नहीं था, बल्कि वह मानव–जीवन के मूल्यों से गहराई से जुड़ा हुआ था। उनका मानना था कि ऐसी अर्थव्यवस्था, जो मानव–गरिमा, श्रम–सम्मान और सामाजिक समता की उपेक्षा करती है, अंततः समाज को विघटन की ओर ले जाती है। इसलिए गांधी का आर्थिक चिंतन मानव–केंद्रित है, जिसमें लाभ की अधिकतमता के स्थान पर समाज के अंतिम व्यक्ति के कल्याण को प्राथमिकता दी जाती है। इस दृष्टि से उनका दर्शन सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता का नैतिक आधार प्रस्तुत करता है।

आधुनिक विश्व में आर्थिक विकास की प्रचलित अवधारणा ने भले ही तकनीकी प्रगति और भौतिक समृद्धि को बढ़ाया हो, किंतु इसके दुष्परिणाम भी उतने ही गंभीर रूप में सामने आए हैं। पर्यावरणीय क्षरण, संसाधनों का अत्यधिक दोहन, बढ़ती आर्थिक विषमता और सामाजिक असंतोष इस विकास मॉडल की सीमाओं को उजागर करते हैं। ऐसे संदर्भ में गांधीवादी आर्थिक दर्शन एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रदान करता है, जो प्रकृति के साथ सामंजस्य, सीमित उपभोग और नैतिक आत्म–संयम पर आधारित है। गांधी का यह विचार कि विकास का उद्देश्य मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिए, न कि अनियंत्रित लालच, सतत विकास की समकालीन अवधारणा से सीधे जुड़ता है।

गांधीवादी आर्थिक दर्शन के प्रमुख तत्व—न्यासिता, श्रम–गरिमा, स्वदेशी, विकेंद्रीकरण और सीमित उपभोग—आज के वैश्विक आर्थिक संकटों के समाधान की दिशा में महत्वपूर्ण संकेत प्रदान करते हैं। न्यासिता संपत्ति के सामाजिक उत्तरदायित्व को रेखांकित करती है, श्रम–गरिमा उत्पादन प्रक्रिया को मानवीय बनाती है, जबकि स्वदेशी और विकेंद्रीकरण स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं को सुदृढ़ कर पर्यावरणीय दबाव को कम करते हैं। सीमित उपभोग की अवधारणा उपभोक्तावाद की आलोचना करते हुए संसाधनों के न्यायपूर्ण और संतुलित उपयोग पर बल देती है। इस प्रकार गांधी का आर्थिक दर्शन न केवल ऐतिहासिक महत्व रखता है, बल्कि समकालीन सतत विकास की चुनौतियों के संदर्भ में भी अत्यंत प्रासंगिक और मार्गदर्शक सिद्ध होता है।

कुटशब्द: गांधीवादी आर्थिक दर्शन, सतत विकास, सामाजिक न्याय

प्रस्तावना

आधुनिक आर्थिक विकास का प्रचलित मॉडल तीव्र औद्योगीकरण, तकनीकी विस्तार और अधिकतम लाभ के सिद्धांत पर आधारित है। इस मॉडल ने उत्पादन क्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि की है और भौतिक समृद्धि के नए मानक स्थापित किए हैं। किंतु इसके साथ–साथ इस विकास पथ ने गहरी संरचनात्मक समस्याओं को भी जन्म दिया है। आर्थिक असमानता लगातार बढ़ती जा रही है, जहाँ संपत्ति और संसाधनों का संकेन्द्रण सीमित वर्गों तक सिमटता जा रहा है, जबकि विशाल जनसंख्या बुनियादी आवश्यकताओं के लिए संघर्षरत है। इसके अतिरिक्त, अनियंत्रित औद्योगीकरण और उपभोक्तावाद ने पर्यावरणीय क्षरण, जैव–विविधता के विनाश और जलवायु परिवर्तन जैसी वैश्विक चुनौतियों को और गंभीर बना दिया है। इक्कीसवीं सदी में जब प्राकृतिक संसाधनों की सीमाएँ स्पष्ट होने लगी हैं, तब यह प्रश्न और अधिक प्रासंगिक हो गया है कि क्या वर्तमान विकास मॉडल मानवता के दीर्घकालिक और समग्र हितों के अनुरूप है।

महात्मा गांधी ने बीसवीं सदी के आरंभ में ही इस विकास–दृष्टि की अंतर्निहित सीमाओं को पहचान लिया था। उनका आर्थिक दर्शन आधुनिक अर्थशास्त्र के उस तकनीकी और यांत्रिक दृष्टिकोण से भिन्न था, जिसमें मानव को केवल उत्पादन और उपभोग की इकाई के रूप में देखा जाता है। गांधी के लिए अर्थव्यवस्था का उद्देश्य केवल धन–संचय या उत्पादन–वृद्धि नहीं था, बल्कि मानव की नैतिक उन्नति, सामाजिक समता और सामूहिक कल्याण था। वे मानते थे कि ऐसी अर्थव्यवस्था, जो नैतिक मूल्यों से रहित हो, अंततः समाज में शोषण, असंतोष और हिंसा को जन्म देती है। इसीलिए उन्होंने आर्थिक गतिविधियों को सत्य, अहिंसा और आत्म–संयम जैसे नैतिक सिद्धांतों से जोड़ने का प्रयास किया।

इस संदर्भ में गांधीवादी आर्थिक दर्शन आज की सतत विकास की अवधारणा से गहरे रूप में जुड़ता हुआ दिखाई देता है। सतत विकास का मूल उद्देश्य भी यही है कि वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार की जाए कि भविष्य की पीढ़ियों

के अधिकार और संसाधन सुरक्षित रहें। गांधी का सीमित उपभोग, प्रकृति के साथ सह–अस्तित्व और समाज के अंतिम व्यक्ति के कल्याण पर केंद्रित दृष्टिकोण आधुनिक विकास विमर्श को एक मानवीय और नैतिक दिशा प्रदान करता है। अतः गांधीवादी आर्थिक दर्शन न केवल ऐतिहासिक महत्व रखता है, बल्कि समकालीन वैश्विक संकटों के समाधान की खोज में एक वैकल्पिक और दूरदर्शी विचार–प्रणाली के रूप में उभरता है।

गांधीवादी आर्थिक दर्शन की अवधारणा

गांधी का आर्थिक दर्शन किसी एक सुव्यवस्थित ग्रंथ या सैद्धांतिक मॉडल के रूप में उपलब्ध नहीं है, बल्कि यह उनके संपूर्ण जीवन–कर्म, लेखन, भाषणों और रचनात्मक प्रयोगों में अंतर्निहित रूप से विद्यमान है। *हिंद स्वराज*, *यंग इंडिया*, *हरिजन* तथा उनके पत्र–व्यवहार में व्यक्त विचारों के माध्यम से गांधी एक ऐसी अर्थ–दृष्टि प्रस्तुत करते हैं, जो आधुनिक अर्थशास्त्र की मूल्य–निरपेक्ष प्रवृत्ति से भिन्न है। उनका आर्थिक चिंतन सत्य, अहिंसा और नैतिक उत्तरदायित्व जैसे मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित है, जहाँ अर्थव्यवस्था को मानव–जीवन के नैतिक उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता[1]। गांधी के लिए आर्थिक गतिविधियाँ समाज के नैतिक स्वास्थ्य का प्रतिबिंब होती हैं; अतः वे अर्थशास्त्र को केवल उत्पादन और वितरण की तकनीक नहीं, बल्कि जीवन–दर्शन का अभिन्न अंग मानते हैं।

अर्थव्यवस्था का नैतिक आधार

गांधी के अनुसार यदि अर्थशास्त्र नैतिकता से विहीन हो जाए, तो वह समाज के लिए कल्याणकारी न होकर विनाशकारी सिद्ध होता है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऐसी आर्थिक व्यवस्था, जो कुछ व्यक्तियों को अत्यधिक समृद्ध और बहुसंख्यक समाज को दरिद्र बनाए, न तो न्यायपूर्ण है और न ही दीर्घकाल में टिकाऊ हो सकती[2]। गांधी इस असमानता को केवल आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि नैतिक संकट के रूप में देखते हैं। इसी पृष्ठभूमि में वे "मानवीय अर्थव्यवस्था" की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, जिसका उद्देश्य अधिकतम लाभ नहीं, बल्कि न्यूनतम आवश्यकताओं की सार्वभौमिक पूर्ति है। इस दृष्टि से गांधी का आर्थिक दर्शन आधुनिक कल्याणकारी राज्य और सतत विकास की अवधारणाओं का नैतिक पूर्वाधार निर्मित करता है।

श्रम–गरिमा और उत्पादन का मानवीय दृष्टिकोण

गांधीवादी आर्थिक दर्शन में श्रम को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। गांधी श्रम को केवल उत्पादन का साधन नहीं मानते, बल्कि उसे मानव–गरिमा, आत्मसम्मान और सामाजिक समानता से जोड़ते हैं। उनके अनुसार बौद्धिक और शारीरिक श्रम के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा भेद सामाजिक असमानता और शोषण को जन्म देता है। गांधी स्वयं श्रम को अपने जीवन–व्यवहार में अपनाकर उसे नैतिक मूल्य प्रदान करते हैं। चरखा उनके आर्थिक दर्शन का सशक्त प्रतीक है, जो आत्मनिर्भरता, श्रम–सम्मान और विकेंद्रीकृत उत्पादन की अवधारणा को अभिव्यक्त करता है[3]। चरखे के माध्यम से गांधी यह संदेश देते हैं कि उत्पादन प्रक्रिया तभी मानवीय हो सकती है, जब उसमें श्रमिक की गरिमा और समाज की आवश्यकताओं—दोनों का सम्मान किया जाए।

न्यासिता सिद्धांत और आर्थिक न्याय

गांधीवादी आर्थिक दर्शन का केंद्रीय और सर्वाधिक मौलिक तत्व न्यासिता सिद्धांत (Trusteeship) है, जो संपत्ति और पूंजी के स्वामित्व की प्रचलित अवधारणा को नैतिक आधार पर पुनर्परिभाषित करता है। गांधी के अनुसार किसी व्यक्ति या संस्था का संपत्ति पर अधिकार पूर्ण और निरंकुश नहीं हो सकता, क्योंकि संपत्ति का सृजन समाज, श्रम और प्राकृतिक संसाधनों के सामूहिक योगदान से होता है। इस दृष्टि से संपत्ति को निजी भोग की वस्तु मानने के स्थान पर सामाजिक धरोहर के रूप में देखा जाना चाहिए। संपन्न वर्ग को गांधी समाज द्वारा प्रदत्त संसाधनों का स्वामी नहीं, बल्कि उनका न्यासी मानते हैं, जिसका दायित्व है कि वह अपनी संपत्ति का उपयोग समाज–कल्याण और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए करे[4]। न्यासिता का उद्देश्य आर्थिक समानता को नैतिक सहमति के माध्यम से प्राप्त करना है, न कि राज्य द्वारा बलपूर्वक नियंत्रण के जरिए।

पूंजी और समाज का संबंध

गांधी पूंजीवाद के उस रूप के प्रखर आलोचक थे, जिसमें पूंजी का संकेन्द्रण कुछ हाथों में सिमट जाता है और बहुसंख्यक समाज श्रम–शोषण तथा अभावग्रस्त जीवन जीने को विवश हो जाता है। वे मानते थे कि आर्थिक असमानता केवल भौतिक समस्या नहीं, बल्कि सामाजिक और नैतिक असंतुलन का परिणाम है। हालांकि गांधी हिंसक वर्ग–संघर्ष या क्रांतिकारी उपायों के पक्षधर नहीं थे। वे मार्क्सवादी क्रांति के स्थान पर नैतिक आत्म–संयम और स्वैच्छिक परिवर्तन पर आधारित मार्ग को अधिक उपयुक्त मानते थे। न्यासिता सिद्धांत इसी दृष्टि का प्रतिफल है, जिसका उद्देश्य संपत्ति का सामाजिक उपयोग सुनिश्चित करना है, न कि उसका राज्य द्वारा जबरन पुनर्वितरण[5]। इस प्रकार गांधी पूंजी और समाज के बीच एक नैतिक संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं, जहाँ आर्थिक शक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व से नियंत्रित होती है।

समकालीन संदर्भ में न्यासिता

समकालीन संदर्भ में कॉर्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व (CSR) को प्रायः गांधीवादी न्यासिता का आधुनिक रूप माना जाता है। किंतु दोनों के बीच मूलभूत अंतर है। CSR प्रायः कानूनी अनिवार्यता या छवि–निर्माण के साधन के रूप में सीमित रह जाता है, जहाँ लाभ–अर्जन की मूल संरचना यथावत बनी रहती है। इसके विपरीत गांधीवादी न्यासिता उत्पादन–प्रणाली, श्रम–नीति, कार्य–परिस्थितियों और लाभ–वितरण की संपूर्ण व्यवस्था में नैतिकता की मांग करती है[6]। यह केवल लाभ का एक अंश समाज को लौटाने की बात नहीं करती, बल्कि यह प्रश्न उठाती है कि लाभ कैसे अर्जित किया जा रहा है और उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। इस दृष्टि से न्यासिता आज के असमान और संसाधन–केंद्रित वैश्विक आर्थिक ढांचे के लिए एक गहन नैतिक चुनौती प्रस्तुत करती है और आर्थिक न्याय की वैकल्पिक परिकल्पना को सुदृढ़ करती है।

स्वदेशी और विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था

गांधी का स्वदेशी सिद्धांत केवल विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार या आर्थिक राष्ट्रवाद तक सीमित नहीं था, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक–आर्थिक दृष्टि प्रस्तुत करता है। स्वदेशी का तात्पर्य ऐसी अर्थव्यवस्था से है, जो स्थानीय संसाधनों, स्थानीय श्रम और स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित हो। गांधी मानते थे कि जब उत्पादन और उपभोग स्थानीय स्तर पर संगठित होता है, तब न केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता बढ़ती है, बल्कि समाज में पारस्परिक उत्तरदायित्व और सहयोग की भावना भी विकसित होती है[7]। स्वदेशी इस अर्थ में आत्म–संयम और विवेकपूर्ण चयन की नैतिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपने उपभोग के सामाजिक और पर्यावरणीय प्रभावों के प्रति सजग रहता है।

स्वदेशी का एक महत्वपूर्ण आयाम सांस्कृतिक और सामाजिक है। गांधी के अनुसार विदेशी वस्तुओं पर अत्यधिक निर्भरता केवल आर्थिक शोषण ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पराधीनता को भी जन्म देती है। स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग स्थानीय कारीगरों, किसानों और श्रमिकों की आजीविका से जुड़ा होता है, जिससे समाज के कमजोर वर्गों को आर्थिक सुरक्षा मिलती है। इस प्रकार स्वदेशी केवल

[1] Gandhi, M. K. (1927). Hind Swaraj. Navajivan Publishing House.
[2] Gandhi, M. K. (1951). Collected Works of Mahatma Gandhi, Vol. 64. Government of India.
[3] Kumarappa, J. C. (1945). Economy of Permanence. Sarva Seva Sangh.
[4] Gandhi, M. K. (1939). Trusteeship. Navajivan Publishing House.
[5] Parekh, B. (1997). Gandhi's Political Philosophy. Macmillan.
[6] Chatterjee, P. (2012). Ethics and Indian Economic Thought. Oxford University Press.
[7] Gandhi, M. K. (1927). Hind Swaraj. Navajivan Publishing House.

आर्थिक नीति नहीं, बल्कि सामाजिक पुनर्निर्माण का माध्यम भी बनता है, जो आत्मनिर्भर और संतुलित समाज की रचना में सहायक है[8]।

विकेंद्रीकरण का महत्व

गांधी केंद्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था को सामाजिक असमानता, श्रम–शोषण और पर्यावरणीय संकट का प्रमुख कारण मानते थे। उनके अनुसार बड़े–बड़े कारखानों और महानगरीय उद्योगों में पूंजी और उत्पादन का केंद्रीकरण होता है, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों का आर्थिक क्षरण और शहरी क्षेत्रों में सामाजिक तनाव बढ़ता है। इसके विपरीत, गांधी ग्राम–आधारित अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे, जिसमें उत्पादन की इकाइयाँ छोटे पैमाने पर, स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप संचालित हों[10] । इस प्रकार का विकेंद्रीकरण आर्थिक शक्ति को समाज के व्यापक वर्गों में वितरित करता है।

विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष रोजगार–सृजन से जुड़ा है। लघु और कुटीर उद्योग अधिक श्रम–प्रधान होते हैं, जिससे बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार के अवसर मिलते हैं। गांधी मानते थे कि मशीनों का उपयोग तभी उचित है, जब वह मानव श्रम को विस्थापित न करे, बल्कि उसे सहायक रूप में सशक्त बनाए। इस दृष्टि से विकेंद्रीकरण न केवल बेरोजगारी की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है, बल्कि श्रम–गरिमा और सामाजिक स्थिरता को भी सुदृढ़ करता है[9]।

पर्यावरणीय संतुलन और स्वदेशी

गांधीवादी स्वदेशी का पर्यावरणीय आयाम आज के संदर्भ में विशेष रूप से प्रासंगिक है। स्थानीय स्तर पर उत्पादन होने से लंबी दूरी तक वस्तुओं के परिवहन की आवश्यकता कम होती है, जिससे ईंधन–खपत और ऊर्जा–उपयोग में उल्लेखनीय कमी आती है। इसके परिणामस्वरूप कार्बन उत्सर्जन घटता है और पर्यावरण पर पड़ने वाला दबाव कम होता है। इस प्रकार स्वदेशी उत्पादन आधुनिक औद्योगिक आपूर्ति–श्रृंखलाओं की तुलना में अधिक पर्यावरण–अनुकूल सिद्ध होता है[10]।

इसके अतिरिक्त, स्वदेशी अर्थव्यवस्था प्राकृतिक संसाधनों के विवेकपूर्ण और सीमित उपयोग पर बल देती है। गांधी प्रकृति को केवल उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि मानव–जीवन का सहचर मानते थे। उनका यह दृष्टिकोण आज के सतत विकास लक्ष्यों—जैसे संसाधनों का संरक्षण, जलवायु परिवर्तन की रोकथाम और पर्यावरणीय न्याय—से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ता है। इस प्रकार गांधीवादी स्वदेशी न केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त करता है, बल्कि मानव और प्रकृति के बीच संतुलित सह–अस्तित्व की नैतिक आधारशिला भी रखता है[11]।

सीमित उपभोग और 'ज़रूरत बनाम लालच'

गांधी का प्रसिद्ध कथन— *"पृथ्वी सभी की ज़रूरतें पूरी कर सकती है, लेकिन किसी एक के लालच को नहीं"*—उनके आर्थिक दर्शन का सार अत्यंत सटीक रूप में अभिव्यक्त करता है[11]। इस कथन के माध्यम से गांधी 'ज़रूरत' और 'लालच' के बीच मूलभूत नैतिक भेद स्थापित करते हैं। उनके अनुसार आवश्यकता–आधारित उपभोग मानव जीवन के लिए अनिवार्य है, किंतु लालच–आधारित उपभोग सामाजिक असमानता और संसाधनों के असंतुलित वितरण को जन्म देता है। गांधी के आर्थिक चिंतन में उपभोग को नैतिक विवेक द्वारा नियंत्रित किया जाना आवश्यक है, ताकि समाज के सभी वर्गों की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति संभव हो सके।

गांधी सीमित उपभोग को किसी प्रकार का त्याग या अभाव नहीं मानते, बल्कि इसे आत्म–अनुशासन और सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रतीक समझते हैं। उनके लिए सीमित उपभोग व्यक्ति को केवल उपभोक्ता नहीं, बल्कि समाज का उत्तरदायी सदस्य बनाता है। इस दृष्टि से गांधी का विचार उपभोग की मात्रा पर ही नहीं, बल्कि उपभोग की प्रकृति और उद्देश्य पर भी प्रश्न उठाता है। वे मानते थे कि जब उपभोग नैतिक सीमाओं का उल्लंघन करता है, तब वह व्यक्तिगत सुख से आगे बढ़कर सामाजिक संकट का कारण बन जाता है[12]।

उपभोक्तावाद की आलोचना

आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था उपभोग को विकास का प्रमुख इंजन मानती है। विज्ञापन, बाज़ार और वैश्विक आपूर्ति–श्रृंखलाएँ निरंतर नई इच्छाओं का निर्माण करती हैं, जिससे उपभोग को आवश्यकता नहीं, बल्कि प्रतिष्ठा और पहचान से जोड़ दिया जाता है। गांधी इस प्रवृत्ति के कटु आलोचक थे। उनके अनुसार उपभोक्तावाद व्यक्ति को आत्म–केंद्रित बनाता है और समाज में प्रतिस्पर्धा, असंतोष तथा हिंसा की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देता है[13]।

गांधी का मानना था कि अनियंत्रित उपभोग केवल प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण ही नहीं करता, बल्कि मानव के नैतिक पतन का भी कारण बनता है। जब जीवन का उद्देश्य संग्रह और भोग बन जाता है, तब श्रम–गरिमा, करुणा और सामाजिक समता जैसे मूल्य गौण हो जाते हैं। इसलिए गांधी आत्म–संयम और सादगी को आर्थिक ही नहीं, बल्कि नैतिक अनिवार्यता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार सच्चा विकास वह है, जिसमें उपभोग मानव की आवश्यकताओं तक सीमित रहे और समाज के कमजोर वर्गों के अधिकारों का हनन न हो[14]।

सतत विकास से संबंध

सतत विकास का मूल सिद्धांत भी यही है कि वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार की जाए कि भविष्य की पीढ़ियों के संसाधन और पर्यावरण सुरक्षित रहें। इस दृष्टि से गांधीवादी सीमित उपभोग सतत विकास का एक सशक्त नैतिक आधार प्रदान करता है। गांधी के विचार उपभोग–संयम, संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग और प्रकृति के साथ सह–अस्तित्व पर बल देते हैं, जो आधुनिक सतत विकास विमर्श के केंद्रीय तत्व हैं[15]।

इसके अतिरिक्त, गांधीवादी सीमित उपभोग आर्थिक असमानता को कम करने में भी सहायक हो सकता है। जब समाज के संपन्न वर्ग अपने उपभोग को नैतिक सीमाओं में रखते हैं, तब संसाधनों का अधिक न्यायपूर्ण वितरण संभव होता है। इस प्रकार गांधी का आर्थिक दर्शन न केवल पर्यावरणीय संतुलन की रक्षा करता है, बल्कि सामाजिक न्याय और पीढ़ीगत समानता की अवधारणा को भी सुदृढ़ करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि गांधीवादी सीमित उपभोग सतत विकास को केवल तकनीकी नीति नहीं, बल्कि एक नैतिक जीवन–दृष्टि में रूपांतरित करता है[16]।

गांधीवादी आर्थिक दर्शन और सतत विकास

संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रतिपादित सतत विकास की अवधारणा तीन प्रमुख स्तंभों—आर्थिक वृद्धि, सामाजिक समावेशन और पर्यावरणीय संरक्षण—पर आधारित है। यद्यपि यह अवधारणा औपचारिक रूप से बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई, किंतु इसके मूल विचार गांधीवादी दर्शन में पहले से ही निहित दिखाई देते हैं। गांधी का आर्थिक चिंतन विकास को केवल आय–वृद्धि या उत्पादन–विस्तार के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे सामाजिक न्याय, नैतिकता और प्रकृति–सम्मत जीवन से जोड़ता है। इस दृष्टि से गांधीवादी आर्थिक दर्शन सतत विकास की आधुनिक अवधारणा का नैतिक और दार्शनिक पूर्वगामी प्रतीत होता है।

---

[8] Gandhi, M. K. (1927). Hind Swaraj. Navajivan Publishing House.
[9] Nanda, B. R. (2001). Gandhi and Economic Thought. Oxford University Press.
[10] United Nations. (2015). Sustainable Development Goals Report.
[11] Gandhi, M. K. (1947). Collected Works of Mahatma Gandhi, Vol. 90. Government of India.
[12] Gandhi, M. K. (1947). Collected Works of Mahatma Gandhi, Vol. 90. Government of India.
[13] Schumacher, E. F. (1973). Small Is Beautiful: Economics as if People Mattered. Harper & Row.
[14] Schumacher, E. F. (1973). Small Is Beautiful: Economics as if People Mattered. Harper & Row.
[15] Schumacher, E. F. (1973). Small Is Beautiful: Economics as if People Mattered. Harper & Row.
[16] World Commission on Environment and Development (WCED). (1987). Our Common Future. Oxford University Press.

गांधी के लिए विकास का अर्थ था—मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति, समाज के कमजोर वर्गों का उत्थान और प्रकृति के साथ संतुलित सह–अस्तित्व। यही कारण है कि उनके विचार आज वैश्विक स्तर पर विकास की वैकल्पिक दृष्टियों—जैसे मानव–विकास, समावेशी विकास और सतत विकास—के साथ गहरे रूप में संवाद करते हुए दिखाई देते हैं।

सामाजिक आयाम

गांधीवादी आर्थिक दर्शन का सामाजिक आयाम "अंत्योदय" की अवधारणा में निहित है, जिसका अर्थ है—समाज के अंतिम, सबसे कमजोर और वंचित व्यक्ति का उत्थान। गांधी मानते थे कि किसी भी अर्थव्यवस्था की सफलता का मापदंड यह होना चाहिए कि वह समाज के सबसे निर्धन व्यक्ति के जीवन में कितना सकारात्मक परिवर्तन लाती है। इस दृष्टि से उनकी अर्थव्यवस्था सामाजिक समावेशन पर आधारित है, न कि केवल औसत आय या कुल उत्पादन के आँकड़ों पर[17]।

गांधी का यह दृष्टिकोण आधुनिक सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) से प्रत्यक्ष रूप से मेल खाता है, जिनमें गरीबी उन्मूलन, असमानता में कमी, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और सम्मानजनक रोजगार जैसे लक्ष्य शामिल हैं। गांधीवादी मॉडल सामाजिक असमानता को संरचनात्मक समस्या मानता है और उसके समाधान के लिए नैतिक उत्तरदायित्व, न्यासिता और सीमित उपभोग जैसे उपायों पर बल देता है। इस प्रकार यह दर्शन समावेशी विकास को केवल नीति–स्तर पर नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना के स्तर पर स्थापित करने का प्रयास करता है।

पर्यावरणीय आयाम

प्रकृति के प्रति अहिंसक और संवेदनशील दृष्टिकोण गांधी के चिंतन का अभिन्न अंग है। गांधी प्रकृति को केवल संसाधनों का भंडार नहीं मानते, बल्कि उसे मानव–जीवन का सहचर और नैतिक व्यवस्था का अंग समझते हैं। उनके अनुसार प्रकृति का अंधाधुंध दोहन अहिंसा के सिद्धांत का उल्लंघन है, क्योंकि इससे न केवल पर्यावरण को क्षति पहुँचती है, बल्कि भविष्य की पीढ़ियों के अधिकार भी प्रभावित होते हैं[18]।

आज जब जलवायु परिवर्तन, जैव–विविधता ह्रास और पर्यावरणीय संकट वैश्विक चिंता का विषय बन चुके हैं, तब गांधी का सह–अस्तित्व पर आधारित दृष्टिकोण विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाता है। सतत विकास का पर्यावरणीय आयाम भी इसी सिद्धांत पर आधारित है कि विकास की प्रक्रिया में पर्यावरण की वहन–क्षमता (carrying capacity) का सम्मान किया जाए। इस संदर्भ में गांधीवादी सादगी, सीमित उपभोग और स्वदेशी जैसे विचार पर्यावरणीय संरक्षण के लिए नैतिक आधार प्रदान करते हैं।

आर्थिक आयाम

यह धारणा प्रायः प्रचलित है कि गांधी आर्थिक वृद्धि के विरोधी थे, किंतु वस्तुतः वे ऐसी वृद्धि के पक्षधर नहीं थे जो मानव–केंद्रित न हो। गांधी उत्पादन और तकनीकी प्रगति का विरोध नहीं करते, बल्कि वे उस आर्थिक वृद्धि की आलोचना करते हैं जो श्रम–शोषण, असमानता और पर्यावरणीय विनाश पर आधारित हो। उनके अनुसार अर्थव्यवस्था का उद्देश्य केवल धन–संचय नहीं, बल्कि मानव–कल्याण और सामाजिक संतुलन होना चाहिए[19]।

इसी कारण गांधीवादी आर्थिक दृष्टि आज "ग्रीन इकोनॉमी" और "सर्कुलर इकोनॉमी" जैसी आधुनिक अवधारणाओं से साम्य रखती है, जो संसाधनों के पुनः उपयोग, अपशिष्ट में कमी और पर्यावरण–अनुकूल उत्पादन पर बल देती हैं। गांधी की अर्थव्यवस्था स्थानीय उत्पादन, श्रम–प्रधान उद्योगों और नैतिक नियंत्रण पर आधारित है, जो आर्थिक गतिविधियों को टिकाऊ बनाती है। इस प्रकार गांधीवादी आर्थिक दर्शन सतत विकास के आर्थिक आयाम को मात्र वृद्धि नहीं, बल्कि गुणात्मक और नैतिक विकास के रूप में परिभाषित करता है।

यह सत्य है कि गांधीवादी आर्थिक दर्शन को पूर्ण रूप से लागू करना आधुनिक वैश्विक अर्थव्यवस्था में कठिन प्रतीत होता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन और तकनीकी प्रगति की आवश्यकताओं को नकारा नहीं जा सकता। किंतु गांधी का उद्देश्य तकनीक का निषेध नहीं, बल्कि उसके मानवीय उपयोग पर नियंत्रण था।

निष्कर्ष

गांधीवादी आर्थिक दर्शन आज भी उतना ही प्रासंगिक और अर्थपूर्ण है जितना स्वतंत्रता आंदोलन के काल में था, बल्कि वर्तमान वैश्विक परिस्थितियों में इसकी आवश्यकता और अधिक गहराई से अनुभव की जा रही है। पर्यावरणीय संकट, जलवायु परिवर्तन, बढ़ती आर्थिक असमानता और उपभोक्तावादी जीवन–शैली से उत्पन्न नैतिक विघटन यह स्पष्ट करते हैं कि केवल उत्पादन–वृद्धि और तकनीकी प्रगति पर आधारित विकास मॉडल मानवता की दीर्घकालिक आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल रहा है। ऐसे समय में गांधी के विचार हमें विकास की दिशा और उद्देश्य—दोनों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं। उनका आर्थिक दर्शन यह स्मरण कराता है कि विकास का मूल लक्ष्य मानव–कल्याण होना चाहिए, न कि मात्र पूंजी–संचय या उपभोग का विस्तार।

गांधीवादी दृष्टिकोण विकास को नैतिकता, सामाजिक न्याय और प्रकृति के साथ सामंजस्य से जोड़ता है। न्यासिता, सीमित उपभोग, श्रम–गरिमा, स्वदेशी और विकेंद्रीकरण जैसे सिद्धांत न केवल आर्थिक संरचनाओं की आलोचना करते हैं, बल्कि एक वैकल्पिक और मानवीय विकास–मॉडल का निर्माण भी करते हैं। यह मॉडल समाज के अंतिम व्यक्ति के उत्थान को केंद्र में रखता है और आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण के स्थान पर सामाजिक उत्तरदायित्व को प्राथमिकता देता है। इस प्रकार गांधी का आर्थिक दर्शन समावेशी विकास और पीढ़ीगत न्याय की अवधारणा को सुदृढ़ करता है, जो सतत विकास की आत्मा है।

अतः यह कहा जा सकता है कि गांधीवादी आर्थिक दर्शन केवल एक ऐतिहासिक या वैचारिक विकल्प नहीं है, बल्कि भविष्य की टिकाऊ, न्यायपूर्ण और मानवीय अर्थव्यवस्था का मार्गदर्शक सिद्धांत है। यह दर्शन हमें सिखाता है कि सच्चा विकास वही है, जिसमें मानव और प्रकृति दोनों के अधिकारों का संरक्षण हो और आर्थिक गतिविधियाँ नैतिक विवेक द्वारा नियंत्रित हों। यदि समकालीन विकास नीतियों और वैश्विक आर्थिक व्यवस्थाओं में गांधी के विचारों का सार्थक समावेश किया जाए, तो सतत विकास की अवधारणा केवल एक लक्ष्य नहीं, बल्कि व्यावहारिक वास्तविकता के रूप में साकार हो सकती है।

References

1. Gandhi MK. Hind Swaraj. Ahmedabad: Navajivan Publishing House; 1927.
2. Gandhi MK. Harijan. Ahmedabad: Navajivan Publishing House; 1938.
3. Gandhi MK. Trusteeship. Ahmedabad: Navajivan Publishing House; 1939.
4. Kumarappa JC. Economy of Permanence. Wardha: Sarva Seva Sangh; 1945.
5. Gandhi MK. Collected Works of Mahatma Gandhi. Vol. 90. New Delhi: Government of India; 1947.
6. Gandhi MK. Collected Works of Mahatma Gandhi. Vol. 64. New Delhi: Government of India; 1951.
7. Schumacher EF. Small Is Beautiful: Economics as If People Mattered. New York: Harper & Row; 1973.
8. Iyer R. The Moral and Political Thought of Mahatma Gandhi. New Delhi: Oxford University Press; 1986.
9. World Commission on Environment and Development. Our Common Future. Oxford: Oxford University Press; 1987.

[17] Gandhi, M. K. (1947). Collected Works of Mahatma Gandhi, Vol. 90. Government of India.
[18] Shiva, V. (2005). Earth Democracy: Justice, Sustainability and Peace. Zed Books.
[19] UNEP. (2011). Towards a Green Economy: Pathways to Sustainable Development and Poverty Eradication.

10. Parekh B. Gandhi's Political Philosophy. London: Macmillan; 1997.
11. Sen A. Development as Freedom. Oxford: Oxford University Press; 1999.
12. Iyer R. Gandhi's Vision of a Sustainable World. New Delhi: Oxford University Press; 2000.
13. Nanda BR. Gandhi and Economic Thought. New Delhi: Oxford University Press; 2001.
14. Shiva V. Earth Democracy: Justice, Sustainability, and Peace. London: Zed Books; 2005.
15. United Nations Environment Programme. Towards a Green Economy: Pathways to Sustainable Development and Poverty Eradication. Nairobi: UNEP; 2011.
16. Chatterjee P. Ethics and Indian Economic Thought. New Delhi: Oxford University Press; 2012.
17. United Nations. The Sustainable Development Goals Report. New York: United Nations; 2015.
18. Deendayal Upadhyaya. Integral Humanism and Antyodaya: Selected Speeches and Writings. New Delhi: Suruchi Prakashan; n.d.